जिनमें हैण्ड-पम्प से पानी भरकर माई या हरदेई, दादी और बाबू और हमारे लिए रखतीं। काँसे का कंडाल था जिसमें भोन्दू, दादा के लिए रोज़ाना कुएँ से लाकर पानी भर देता।

असल में दादा का सण्डास, स्नानघर सब अलग था। सामने की तरफ़, उनकी बैठक के बाहर। एक घेरेदार आड़ थी—याद नहीं कि पक्की दीवार थी या यों ही कुछ खड़ा कर दिया था—जिसमें छोटी-सी, ऊँची-सी चौकी (पटरा नहीं था वह), एक पीतल का लोटा और काँसेवाला कण्डाल रखा रहता था। लब-लब भरा हुआ, पानी ही पानी से। दादा को कम पानी से नहाना पड़ता तो वे शायद नहाना बन्द कर देते! चौकी के एक तरफ़ लकड़ी का कमोड था जो भंगी आकर साफ़ कर जाता।

एक बार खेलते-खेलते हम भूल से वहाँ घुस गये थे—चौकी पर पालथी मारकर बैठे दादा, लोटे से पानी अभी-अभी सिर पर उँडेला हुआ, जनेऊ पर बूँदें लटकती हुईं, ज़रा भी विचलित नहीं हुए, बस सख़्त, संक्षिप्त आवाज़ में—"जाओ"—और हम घबराके वहाँ से निकल गये।

बाक़ी परिवार का सण्डास वग़ैरह अन्दर था। वहाँ जहाँ दादी बरामदे में बैठती थीं, आँगन की तरफ़ मुँह किये। उसी आँगन में एक ओर नहाने-धोने की कोठरी थी, दूसरी ओर चौका और लकड़ी व कोयले की कोठरी थी। हैण्ड-पम्प भी आँगन में ही लगा हुआ था। जाड़ों में उसी के पास हरदेई लकड़ी का चूल्हा जलाती थी, जिस पर बड़े-बड़े पतीलों में नहाने का पानी खौलाया जाता था, जिन्हें आँचल के छोर से पकड़े बाल्टी में डालती हुई माई दिख रही है।

बाद में बाबू ने अपने कमरे की एक दीवार तुड़वा दी और वहाँ नया सण्डास और गुसलखाना बना जिसमें फ़्लश, नल, शावर, गीज़र सब कुछ थे, प्लास्टिक की रंगीन बाल्टी और वैसा ही मग भी।

पर वह तो बाद की बात है। बाद में तो बहुत कुछ बदल गया, हालाँकि दादी अन्त तक आँगन में ही नहाती रहीं—जो डोर नहीं टूटी वह आख़िर तक न टूटी—फिर भी ड्योढ़ी में बहुत कुछ बदल गया।

लेकिन वह सब तो बहुत बाद में हुआ।

मुश्किल तो यह है कि हम कह ही बाद में रहे हैं और हमें हताशा-भरा यह यक़ीन खाये जा रहा है कि बाद में सिर्फ़ याद होती है और याद तो

काल्पनिक सींखचों में क़ैद छवि है, जितना केवल सच नहीं है, पूरी बात नहीं है। डर हमें इतना ही नहीं है कि बात अधूरी रह जायेगी, डर हमें यह भी है कि बात तो तभी तक सलामत है जब तक पकड़ न लें। पकड़ते ही वह हमारे हाथों के दबाव में नया आकार पा लेगी, एक ठोस रूप में ढाल दी जायेगी और फिर वही रूप इतिहास का अमिट हिस्सा बन जायेगा। सारी सम्भावनाओं को यों सिमटाकर हम अनकहे की सच्चाई को मिटाना नहीं चाहते।

पर इससे भी बड़ी मुश्किल है कि कहे बिना हम रह ही नहीं पाते। जहाँ हैं वहीं जड़ हो गये हैं और कहकर ही यहाँ से हिल पायेंगे।

हम माई कहना चाहते हैं पर 'माई' से 'कहने' तक का रास्ता कुछ इतना दुर्गम है, कुछ इतना विद्रोहियों से भरा है कि हम नहीं जानते क्या होगा और हम कहाँ पहुँचेंगे?

किसी दुर्गम किले की याद आती है जिसके हम भीतर पहुँचना चाहते हैं 'माई' की तह को पाने। चोर-दरवाज़े, खोह, भूलभुलैया, तरह-तरह की भ्रान्तियों से भरा यह किला! रोशनी देखकर कदम आगे धरते हैं तो पाते हैं कि शून्य में चीत्कारते हुए गिरे जा रहे हैं; सावधानी से, झुककर, छिपे द्वार से सुरंग में दाखिल हो जाते हैं कि जिधर निकलेंगे उधर कुछ मिलेगा, तो पाते हैं कि एक गोल चक्कर मारकर वहीं पहुँच गए हैं जहाँ शुरू किया था; बढ़-रहे-हैं के उत्साह से आगे होते जाते हैं कि तभी कोई शत्रु कहीं ऊपर से, छिपा खड़ा, खौलता तेल कड़ाहे से उँडेल देता है।

कैसे पहुँचें माई तक? कैसे उसे पाकर यहाँ से निकाल लायें? और किसी तरह बच-बचाकर जो चिन्दियाँ निकाल लायेंगे, क्या वह वाक़ई में माई ही होगी? याद और उम्र और समझ के तीरों से उसकी छवि को छलनी न कर दें कहीं। कहीं है माई और वहाँ पूरी है, हम पकड़के, शब्दों में बाँधकर, उसे अधूरा न कर दें कहीं।

माई को छेड़ने की ज़रूरत क्यों इस क़दर आन पड़ी, पता नहीं। पर वह कोई अहसास है जो हमारे अन्दर-बाहर भर गया है और जिसे फेफड़ों में खींचकर हम साँस ले रहे हैं और जिससे घुटकर हम उसे निकालने के लिए साँस छोड़ रहे हैं। शुरू से कमज़ोर माई ऐसे भर सकती है, हमें हैरत हुई।

बाद में।

हमारे दादा—"अब मैं चला, अल्विदा ! कल से मैं न मिलूँगा यहाँ, आपको आपकी 'मौर्निंग वॉक' मुबारक !" फिर दादा की 'वॉक' बस इतनी कि बैठक से सामने के बरामदे तक और बरामदे से बैठक तक !

दादी अलग खाने-पीने में खरी। अगर कभी वे दादा से मिलती रही होंगी तो ज़रूर इस शौक पर दोनों में खूब छनी होगी। उन्हें तो गरम-गरम, चटपटा, तर माल चाहिए रहता। दाँत नहीं थे पर वक़्त ज़रूरत चूरा करके गप कर जातीं।

जब हमने सेहत-सम्बन्धी नयी बातें सीख लीं और उबला दलिया माँगा तो दादी माई को सुना बैठीं—"काँच दरिया खिलाव ताड़िन। भूजे में त इनकर घर लूट जात बा।"

माई धीरे-से बोली भी कि कच्चा नहीं है और घी में भुना ये बच्चे चाहते नहीं।

पर दादी कब चुप रहनेवालीं ?—"लइकन क बहाना खूब मिलेला इ जाँगर चोर (कामचोर) के।"

तब हम बड़े थे। गुस्साये—"दादी सारे पश्चिमी देशों में बिना घी में भूने ही ये खाया जाता है।"

दादी तिलमिलायीं—"हाँ उहे त बनावतरी तोहन लोग के—अंगरेज। जेतना कंजूसी करिहन ओतने तोहन लोग क चमड़ी ऊजर होई।"

सुबोध बोल पड़ा—"क्यों बराबर माई के पीछे पड़ती हैं, उन्हें सुनाती हैं, हमसे सीधे कहिए, हमने ऐसा माँगा था।"

तो दादी की आँखें निकल आयीं—"देख त, ई हो अंगरेजन क चाल-ढाल ह जे केहू क कौनो इज्जत ना कइल जाला . . . "

सुबोध बीच में बबका—"माई को तो बहुत इज़्ज़त देते हैं न आप सब ?"

"बाह रे," दादी मटकीं, "अब त उनकर गोड़ धोके पियब तबे हमार गुजर होई।"

माई ही घबराकर हमें चुप कराती जाती—"चुप . . . श श् . . . श् श् श् . . . बस . . . ए . . . चुप करो सुनि . . . "

"यही सिखाओ," सुबोध उस पर भी पिल पड़ता, "तुम्हारी तरह चुप रह कर सब सहती रहे।"

बरस पड़ने की आदत होती जा रही थी उसकी।

माई की तरह हम चुप नहीं रहना चाहते थे। सिर झुकाये, आँखें ज़मीन पर गड़ाये, दूसरों की सुनने, दूसरों की मर्ज़ी पूरी करने।

हालाँकि माई की यही एक बात थी जो दादी तक को भाती थी। कम से कम यह एक गुण था माई में जिसके लिए वे कभी-कभी उसके सारे दोषों को माफ़ कर देतीं—कि दिन बीत जाता है और बहू की आवाज़ एक बार भी सुनायी नहीं पड़ती, क्लब भी जाती है पर पल्लू सिर पर रहता है, और सब कहते हैं कि माताजी, यह आप ही का पुण्य है कि ऐसी दीन हीन, सुशील बहू मिली, कभी जो आँख ऊपर करती हो।

और दादी हमें सिखलातीं—"अऊर बचवा, असली परदा त ई हे होला।"

माई दिन-भर 'परदे' में रहती, दादी के सवाब में इतनी ताक़त थी।

फिर शाम हो जाती और पेड़ों पर लम्बे साए झुक जाते और हम खेल-कूदकर लौटते तो गिलासों में ताज़े टमाटरों का रस लिये माई खड़ी होती। हमारे हाथ-मुँह धुलाकर, गुलाबजल और ग्लिसरीन का लेप धुले अंगों पर मलवाकर, सबको और हमको खिलाकर, माई हमारे साथ कमरे में आ जाती।

हमारा कमरा, उसका और हमारा।

तब हमारे उस कमरे में—बाबू के कमरे में नहीं रहती थी माई, वहाँ रातों में जाती थी यह हमें पता है क्योंकि हमें बहुत बुरा लगता, उसके लिए डर लगता और हम बारी-बारी से उसे पुकारते, उसे वापस अपने पास बुला लेते—माई अपना वह 'असली पर्दा' धीरे से हटा देती थी।

आज याद आता है कैसे हम तीन हँसते थे, तो लगता है उस कमरे में तीन हमउम्र रहे होंगे। वैसे बहुत अरसे तक माई इसी वक़्त हमारा 'होम वर्क' जाँचती थी हालाँकि बाबू ने क्लब में किसी से हँसकर कहा था कि इनसे क्या पूछना, पढ़े-लिखों से पूछिए, और हमने कभी माई से पूछा था तो वह बोली थी कि एफ़. ए. पास है। पर हम आपस में सशंकित, संकुचित नहीं थे, हम खिलखिलाते रहते।

जब पलँग में माई किस्से-चुटकुले सुनाती। कि साहब ने कहा, माली पानी क्यों नहीं दिया तो माली बोला, हुजूर बारिश हो रही है तो डाँट पड़ी कि छाता लेकर दे देते; कि ड्राइवर ने गाड़ी रोकी तो साहब बोले क्या हुआ, पता

चला हुजूर सामने एक गड्ढा आ गया है, तो हुक्म मिला तो 'हौर्न' बजाओ ना !

माई के किस्सों के साहब बेवकूफ़ ही होते। और जो लम्बे किस्से सुनाती उनमें बेवकूफ़ समझे जानेवाले निरीह गरीब की जीत होती।

निरीहता में जीत सकने की काबिलियत कुछ है, हमने मान लिया था पर सोचकर सोचा नहीं।

3

सोचते तो हम तब भी थे पर अपने सोच पर सोचने की तमीज़ बाद में आयी। पहले, इसलिए, परस्पर-विरोधी विचार, हमारी मंजूरी पाकर, प्रेम से एक संग हममें निर्वाह करते ! न आपस में तनाव-भरे प्रश्न, न एक-दूसरे में अपना सत्य-सार ढूँढ़ते। हमीं ने देखा कि बाबू ने आँख बस उठा-भर दी और माई सिमटकर दरवाज़े की ओट में भेड़ की तरह सट गयी और हम उस 'बेचारी' को बचाने के लिए आगे आकर खड़े हो गए। अगले ही किसी पल हमारी तरफ़ उठी आँख के हमले का, वह अपने स्थिर ठवन से कुछ यों सामना करती कि बाबू या दादा, जो भी रहे हों, वहाँ से खिसक लेते और हम बेखटके उसके आँचल के संबल के पीछे हो लेते।

जब सोच पर सोचने लगे तब सवालों के डंक मारने लगे—बेचारा क्या, बचाया किसने ··· ? हर जवाब पर एक नए सवाल का बिच्छू चढ़ बैठता। बिच्छू का डंक भी तो ऐसा कि न दवा हो पाए, न मौत ही आए, बस दर्द की तिलमिलाहट और बेचैन, चकराता मस्तिष्क। माई ··· माई ··· माई ··· ? ··· ? ··· ? ··· ?

दादी कहा करती थीं कि माई का एक ही गुण है—वह पर्दा करती है। हम उसका वही पर्दा देखकर रो उठते। जो हो सो हो पर पर्दा हम नहीं करेंगे, नहीं करेंगे। दादी तिक्त स्वर में कहती भी थीं—"अजी अब त परदा ऊ ह जेवन खिड़की दरवाजा पर टाँगल जाला।"

पर हमें हैरत अलग ही है। कि खिड़की-दरवाज़े पर टँगे परदे को देखकर हम अच्छी तरह जानते थे कि इसके पीछे एक पूरा, सजा-सजाया कमरा है ··· घर है ··· जहाँ किसी के जीवन का स्पंदन हर चीज़ को स्पर्श करता है। ऐसा भी हुआ है कि कहीं अनजान जगह में फहराता पर्दा देखकर हमारा मन जिज्ञासु हो उठा—क्या है उसके पीछे ? यह तो हमने कभी भी न सोचा कि शून्य में फहराता पर्दा है, न उसके पीछे कुछ, न आगे कुछ। कि बस उसी के फड़फड़ाते सन्नाटे में उलझके रह गए ?

माई का पर्दा देखकर हमें उसके पीछे का खयाल ही न आया।

माई की सहनशीलता और लाज का प्रशान्त वह पर्दा। सबकी सुनती, सबकी करती वह सीरत-पाक छाँह।

दादी की भी, जो ऐसे बात करतीं जैसे रूप, तमीज़, हुनर, ज्ञान, यहाँ तक कि माँ की ममता भी उनकी पीढ़ी तक रहे, फिर कभी नहीं लौटे !

दादी किसी की धौंस नहीं सहती थीं। जिनकी सहनी पड़ सकती थी उनसे सरोकार ही छूट गया था। गोरी-चिट्टी, सुरमई आँखोंवाली, उन्हें अन्त तक अपने रूप पर नाज़ रहा। माई की तरफ़ इशारा करतीं और कहतीं—"ई त जवानिए में ऐसन बाड़ी, हमरा उमर तक आवत-आवत त इनकर रंग अउरि दबि जाई, हम त आजुओ इनका से गोर बानी !" अपना हाथ हवा में फहरा के दिखातीं। "एकरे वजह से त सुनैनवा करिया पइदा भई ल, नाहीं त हमार बबुआ राजा त हमार रंग पवले बाड़न, अनगरेजन जइसन लउकेलन।"

मज़े की बात यह कि दादी सुबोध को काला कभी नहीं कहतीं और जब बचपन में मैंने इस बात पर शिकायत की, तो वे अपने उस्तादी अन्दाज़ में, "खैं ··· खैं ··· " पोपले मुँह से ठिलठिला पड़ीं—"ऊ त बहरा घूमेला, घामा में, एही से रंग दब गइलबा। वइस हूँ लइका ठहरल लइका, घी क लड्डुवा टेढ़ऊ भला, खैं ··· खैं ···।"

मेरे हाथ अपने हाथों में लेकर कहतीं—"ई जेवन एही उमर में तोहार नस उभर आइलबा, हमार त अब जाके लउके लागल ह, नाही त अइसन सूधर, मुलायम हाथ कि छुवला पर अइसन मन करी कि छुवते रहीं।"

तब वे बतातीं कि उनकी जवानी में दादा के किसी अंग्रेज़ दोस्त ने कहा था कि तुम्हारी 'मिसेज़' के इतने खूबसूरत पाँव और हाथ हैं, तुम भला मानो